इकाई–3

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3. निरुक्त प्रथम अध्याय (व्याख्या प्रश्न एवं निर्वचन)

3.4 सारांश

3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.6 स्वपरख प्रश्न / अभ्यास

3.1 उद्देश्य –

इस इकाई के अध्ययन से आप वैदिक शब्दों के संग्रह की व्याख्या से परिचित हो सकेंगे। निरुक्त के अध्ययन से आप वैदिक शब्दों की व्याख्या का कौशल भी प्राप्त कर सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

इस इकाई में निरुक्त का निघण्टु नाम कैसे पड़ा, निघण्टु की व्याख्या, निर्वचन एवं पद के प्रकार, वाक्य में भाव की प्राधानता, नाम 'आख्यात' के सामान्य एव विशेष रूप का प्रदर्शन, औदुम्बरायण का शब्द प्रयोग की आवश्यकता, लौकिक तथा शब्द नियतत्व पक्ष, शब्द प्रयोग की आवश्यकता, लौकिक तथा वैदिक भाषाओं की समानता, वैदिक मंत्रों की आवश्यकता, भाव के प्रकार, आचार्य गार्ग्य का वाचकत्व पक्ष आदि की प्रस्तुति आपका ज्ञान संवर्धन करेगी।

3.3 निरुक्त प्रथम अध्याय (व्याख्या प्रश्न एवं निर्वचन)

मूल– समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तम् इमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।

अनुवाद– (वैदिक शब्दों का) संग्रह संगृहीत हो चुका। (अब) उसकी व्याख्या करनी है। इस संग्रह को (आचार्य लोग) 'निघण्टु' कहते हैं।

व्याख्या–'समाम्नाय' शब्द 'सम्' और 'आङ्' उपसर्गों के साथ 'म्ना' धातु से 'कर्म' कारक में 'घञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना गया है। 'सम्' का अर्थ है सम्यक्' 'आ' का अर्थ है एक विशिष्ट क्रम में तथा 'म्ना' धातु का अर्थ है 'अभ्यास' अर्थात् किसी विषय का बार–बार विचार करना, मनन करना इत्यादि। अतः 'समाम्नाय', शब्द का अर्थ हुआ वह शब्दकोष जिसमें एक विशेष दृष्टि से, बार–बार विचार करके शब्दों का संग्रह किया गया है। यहाँ यास्क ने 'समाम्नाय' शब्द से जिस कोष का उल्लेख किया है वह निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ 'निघण्टु' है, जिसका आरम्भ 'गौ' शब्द से तथा अन्त 'देवपत्नी' शब्द से होता है। यह पाँच अध्यायों तथा तीन काण्डों (नैघण्टुक, नैगम और देवत) में विभक्त है। **टिप्पणी**–विशिष्ट संग्रह के अर्थ में अन्यत्र भी 'समाम्नाय' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में (1,1) में 'वर्ण–समाम्नाय', अनुवाकानुक्रमणी (1,6) में 'पदाक्षर–समाम्नाय' तथा पातंजल महाभाष्य में प्रथमाध्याय प्रथम पाद के द्वितीय आह्निक में 'अक्षर समाम्नाय' का प्रयोग मिलता है।

स व्याख्यातव्यः–यहाँ 'सः' का अभिप्राय है वह 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों का संग्रह, जिसका समाम्नान यास्क ने किया था 'व्याख्यातव्यः' शब्द में 'तव्यत् प्रत्यय अर्ह' अथवा योग्य अर्थ को कहने के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्र0–'आर्हे कृत्यतृचश्च' अर्थात् 'अर्ह' अर्थ को कहने के लिए 'कृत्य' तथा 'तृच' प्रत्ययों का प्रयोग होता है 'कृत्य' कहे जाने वाले प्रत्ययों में 'समाम्नाय' या शब्द संग्रह जो व्याख्याह (व्याख्या के योग्य) है।

तम् इमं......................................आचक्षते।

इस वाक्य में यह बताया गया है कि 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों के कोष को आचार्य लोग 'निघण्टु' कहते हैं। यहाँ भी 'आचक्षते' क्रिया का कर्त्ता नहीं कहा गया है। इसलिए 'आचार्याः' जैसे किसी शब्द का अध्याहार करना होगा।

निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति–

मूल–निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति! छान्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा आ हननाद् एव स्युः। समाहता भवन्ति। यद् वा समाहृता भवन्ति।

अनुवाद–'निघण्टवः' नाम कैसे पड़ा? ये (संगृहीत शब्द) अर्थबोधक होते हैं– दोनों से चुन–चुनकर शब्द इकट्ठे किये गये होते हैं। (इसलिए) वे (शब्द) 'निगन्तु' (अर्थ बोधक) होते हुए ही, अर्थ बोधन के कारण 'निघण्टवः' (नाम से) कहे जाते हैं। यह औपमन्यव का विचार है। अथवा 'आहत' (मर्यादा एवं विभाग के

साथ पठित) होने के कारण ही (इन शब्दों के नाम 'निघण्टव') हुए हों (क्योंकि ये शब्द) 'समाहृत' (एक साथ पठित) होते हैं। अथवा (ये शब्द वेदों से) चुने हुए होते हैं (इसलिए इन्हें 'निघण्टवः') कहा जाता है।

व्याख्या– 'समाम्नाय' (वैदिक कोष) के शब्दों को निघण्टवः क्यों कहा जाता है या उन सभी शब्दों के एकत्व के आधार पर इनके समूहभूत 'समाम्नाय को निघण्टु' क्यों कहा जाता है इस बात को बताने के लिए 'निघण्टवः' शब्द के यहाँ तीन निर्वचन दिये जा रहे हैं। शब्दों का निर्वचन करते हुए कभी–कभी निरुक्त में उस शब्द के साथ 'कस्मात्' शब्द का प्रयोग करके उसके उत्तर में एक या अनेक संभावित धातु या धातुओं का निर्देश किया गया है। यहाँ भी 'निघण्टु' शब्द के विविध निर्वचन प्रस्तुत करने के लिए ही यास्क ने 'निघण्टवः' कस्मात्? यह प्रश्न प्रस्तुत किया है। इस प्रश्न के दो अभिप्राय है– एक यह कि 'निघण्टु' शब्द किस धातु से बनेगा? तथा दूसरा यह कि इस 'समाम्नाय' का 'निघण्टु' नाम क्यों पड़ा, उसकी किस विशेषता के कारण 'निघण्टु' नाम दिया गया? यों इन दोनों प्रश्नों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रथम निर्वचन–प्रथम निर्वचन के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से बना है। चूँकि 'समाम्नाओं' में बड़ी सावधानी के साथ वेदों से शब्द चुन–चुन कर इकट्ठे किये जाते है इसलिए इन शब्दों के अर्थ–ज्ञान के द्वारा वैदिक मंत्रों के अर्थों का बोध होता है। अतः अर्थ बोधक होने के कारण ये शब्द 'निगम' के (नि+गम्+अच्) अर्थात् अर्थ के निश्चायक होते हैं। इस कारण 'निगम' के पर्याय के रूप में 'नि+गम्' के साथ औणादिक 'तुन्' प्रत्यय लगाकर 'निगन्तु' शब्द और उसके बाद 'त' का तथा 'ग' का 'घ' होकर 'निघण्टु' शब्द बना। यास्क ने यह प्रथम व्युत्पत्ति, निरुक्त के प्राचीन आचार्य औपमन्यव के अनसुार दी है।

टिप्पणी–प्रो0 बी0के0 राजवाड़े के अनुसार यहाँ पाठ का क्रम सम्भवतः निम्न रूप में रहा होगा– निघण्टवः कस्मात्? निम्नात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्यः समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमानात् निघन्टव उच्यन्ते औपमन्यवः।

द्वितीय निर्वचन–आ हननाद् एव स्युः समाहता भवन्ति– के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से निष्पन्न होगा। 'समाहनन' तथा 'समाम्नान' का इस प्रसंग में लगभग एक ही अर्थ है, और वह है मर्यादापूर्वक विशिष्ट विभाजन और दृष्टिकोण के साथ शब्दों का एक क्रम से संग्रह। इस निर्वचन में हेतु है 'समाहता भवन्ति', अर्थात् निघण्टु के शब्द सम्यक् रूप से मर्यादापूर्वक एक साथ पढ़े गये हैं।

निघण्टु में शब्दों के चार विभाग–

मूल–तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग–निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

अनुवाद–तो जो चार (प्रकार के) प्रसिद्ध पद, नाम, आख्यात्, उपसर्ग तथा निपात हैं वे (उस प्रकार के ही) ये ('समाम्नाय' के पद भी) हैं।

व्याख्या—इस वाक्य में यह कहा गया है कि भाषा में चार प्रकार के प्रसिद्ध पद हैं— नाम, आख्यात्, उपसर्ग तथा निपात— उन्हीं चार प्रकार के पदों का इस 'समाम्नाय' में भी संग्रह किया गया है। इसलिए 'इमानि' का अर्थ करना चाहिये 'समाम्नाय' के पद अथवा 'शब्द', अभिप्राय यह है कि इन चार विभागों के अन्तर्गत ही बस 'समाम्नाय' के सभी शब्द आ जाते हैं— कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो इन चार विभागों के अन्तर्गत न आ सके।

चत्वारि पदजातानि—पद कितने प्रकार के माने जायें, इस विषय में संस्कृत के वैयाकरणों में विवाद पाया जाता है। दुर्ग का कहना है कि 1. ऐन्द्र व्याकरण में एक प्रकार का ही पद माना गया था। संभवतः अर्थः पदम् इस सूत्र में यह परिभाषा की गयी थी कि अर्थ के वाचक सभी शब्द पद हैं। 2. कुछ अन्य आचार्य दो प्रकार के पद मानते हैं— सुबन्त तथा तिङन्त। ये विद्वान उपसर्गों तथा निपातों के विषय में यह कह कर कि इनकी विभक्तियां अब लुप्त हो गयी हैं, इन दोनों का अन्तर्भाव 'नाम' पदों में ही कर लेते थे। 3. कुछ अन्य तीसरे विद्वान् उपसर्ग तथा निपातों को एक मान कर पदों के तीन भेद मानते हैं। इनका कहना है कि 'अ' आदि उपसर्ग भी वस्तुतः निपात ही हैं। धातु के साथ प्रयुक्त होकर वे निपात होते हुए भी उपसर्ग अथवा जातिसंज्ञक बन जाते हैं। 4. कुछ अन्य यास्क आदि विद्वान् पदों के उपर्युक्त चार प्रकार मानते हैं। 5. इनसे भिन्न कुछ और विद्वान् नाम, आख्यात्, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय इन पाँच संज्ञाओं के आधार पर पाँच प्रकार के पद मानते हैं।

टिप्पणी—यहाँ प्रो0 राजवाड़े ने एक विचारणीय प्रश्न यह प्रस्तुत किया है कि यास्क जिस 'समाम्नाय' अथवा निघण्टु की व्याख्या करने जा रहे हैं उसमें तो पदों के केवल दो ही प्रकार मिलते हैं— 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्द और 'आख्यात्' (तिङन्त शब्द)। उपसर्गों तथा निपातों का संकलन यहाँ नहीं दिखाई देता।

'नाम' और 'आख्यात' की परिभाषा—

मूल—तत्रैतन नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्यप्रधानानि नामानि।

अनुवाद—उन (चार प्रकार के पदों) में से नाम और आख्यात की (निम्न) परिभाषा (आचार्य लोग) बताते हैं जिन (पदों) में भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह 'आख्यात' है तथा जिनमें सत्व (द्रव्य अथवा सिद्ध भाव) की प्रधानता हो वह 'नाम' है।

व्याख्या—यहाँ 'नाम' और 'आख्यात' पदों की परिभाषा प्रस्तुत की जा रही है। 'प्रदिशन्ति' का अर्थ है 'उपदेश' करते हैं— बताते हैं। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दिश्' धातु का एक अर्थ 'उपदेश' भी होता है। यहाँ कहा यह गया कि नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति अर्थात् 'नाम' तथा 'आख्यात' का लक्षण बताते हैं जिसमें पहले 'नाम' तथा फिर 'आख्यात्' को रखा गया था क्योंकि 'नाम' शब्द 'आख्यात' शब्द की अपेक्षा छोटा है। परन्तु लक्षण देते समय 'आख्यात' का लक्षण पहले इसलिए दिया गया कि सभी 'नामों' के मूल में 'आख्यात' (धातु)

ही विद्यमान रहता है ऐसा प्रायः सभी नैरुक्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'आख्यात' की प्रधानता इसलिए भी है कि एक 'आख्यात' (धातु) से अनेक 'नाम' पद निष्पन्न होते हैं।

भाव–प्रधानम् आख्यातम्– यहाँ 'आख्यात' का अभिप्राय है 'व्रजति' 'पठति' इत्यादि तिङन्त या क्रिया वाचक पद। यों तो 'आख्यात' इस पद का प्रयोग कहीं–कहीं केवल धातु के लिए अथवा कहीं–कहीं केवल 'तिङ्' विभक्तियों के लिए भी हुआ है। परन्तु अधिकतर 'आख्यात' शब्द का प्रयोग 'तिङन्त' पद के लिए ही होता है। 'भावप्रधानम्' शब्द में 'बहुब्रीहि' समास है–'भावः प्रधानं यत्र' अर्थात् जहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता हो वह आख्यात (तिङन्त पद) है। यद्यपि 'भाव' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है 'साध्यभाव' या क्रिया। इस प्रकार 'आख्यात' की परिभाषा हुई जिन पदों के अर्थों में साध्य–भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वे 'आख्यात' हैं। 'आख्यात' शब्द की व्युत्पत्ति भी कोषकारों ने यह की है कि 'आख्याते' प्रधानभावेन क्रिया अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्रतद् आख्यातम् अर्थात् जहाँ प्रधान रूप से क्रिया और गौण रूप से द्रव्य का कथन हो वह आख्यात है। 'आख्यात' शब्दों में प्रधान रूप से क्रिया की प्रतीति होती है इसको प्रमाणित करने के लिए व्याख्याकारों ने निम्न हेतु प्रस्तुत किये हैं–

1. 'पचति' या 'व्रजति' इत्यादि तिङन्त या आख्यात पदों के प्रयोग से क्रिया का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि यहाँ पकाने अथवा जाने की क्रिया हो रही है जबकि 'कर्ता' इत्यादि कारकों का अथवा द्रव्य का निश्चय नहीं हो पाता। उसका निश्चय तो तभी होता है जब उस कारक अथवा द्रव्य का नाम लिया जाता है।
2. 'देवदत्तः किं करोति'? इस रूप में जब किसी क्रिया के विषय में प्रश्न किया जाता है तब उसका उत्तर 'पठति' जैसे किसी 'आख्यात' शब्द द्वारा ही दिया जाता है 'नाम' शब्द द्वारा नहीं।

सत्त्वप्रधानानि नामानि–'नाम' शब्दों की परिभाषा यह की गयी कि जिनमें 'सत्व' अर्थात् द्रव्य की प्रधानता हो वे 'नाम' शब्द हैं। यहाँ भी पहले जैसे ही हेतु दिये जा सकते हैं।

1. देवदत्त आदि 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों का उच्चारण होने पर देवदत्त आदि द्रव्य का ही प्रधान रूप से बोध होता है क्योंकि देवदत्त द्रव्य का तो निश्चय इस शब्द से हो जाता है, परन्तु वह क्या करता है– पढ़ता है, सोता है या खाता है? इन क्रियाओं का निश्चय नहीं हो पाता।
2. 'कः पठति'? इस प्रकार के द्रव्यविषयक प्रश्न के उत्तर में 'रामः' जैसे किसी 'नाम' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।
3. जब कभी किसी प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह लिंग तथा संख्या से युक्त होता है। विद्वानों ने लिंग तथा संख्या से युक्त होने को ही 'सत्व' कहा है। **लिङ्–संख्यान्वितं द्रव्यं सत्त्वम् इत्यभिधीयते।**

वाक्य में भाव की प्रधानता–

मूल—तद यत्रोभे, भावप्रधाने भवत। पूर्वापरिभूतं भावम् आख्यातेन आचष्टे, व्रजति पचतीति उपक्रम—प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। मूर्तसत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः।

अनुवाद—जहाँ दोनों ('नाम' तथा 'आख्यात' पद) होते हैं (वहाँ अर्थात् वाक्य में दोनों) क्रिया प्रधान होते हैं 'व्रजति' 'पचति' जैसे ('आख्यात' पदों द्वारा (वक्ता) पहले तथा पीछे (एक विशेष क्रम से) होने वाली आरम्भ से लेकर अन्त तक की क्रिया को कहता है। मूर्त (सिद्ध) एवं द्रव्य के समान बने भाव (सिद्ध भाव) को (वक्त) 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्दों से कहता है।

व्याख्या—'नाम' तथा 'आख्यात' की परिभाषा देने के पश्चात् यह विचारणीय है कि वाक्य में जहाँ दोनों की 'आख्यात' तथा 'नाम' पदों का प्रयोग होता है वहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता मानी जाय या सव्य अर्थात् द्रव्य की? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि वाक्य में जब 'नाम' तथा 'आख्यात' दोनों का प्रयोग होगा तो भी क्रिया की ही प्रधानता होगी। पृथक्—पृथक् जब दोनों का प्रयोग होता है तभी 'आख्यात' को क्रियाप्रधान तथा 'नाम' को द्रव्य प्रधान मानना चाहिये। परन्तु वाक्य में तो जहाँ भी क्रिया की प्रधानता होगी— द्रव्य वहाँ गौणरूप धारण कर लेगा। क्योंकि क्रिया साध्य होती है— निष्पाद्य होती है। उस क्रिया की सिद्धि के लिए 'नामों' अथवा कारकों या दूसरे शब्दों में साधनों का प्रयोग किया जाता है। द्र0—'साधनं हि क्रियाँ निवर्तयति' (साधन क्रिया को बनाते हैं) महाभाष्य (6।1।135)।

'भाव' तथा 'सत्व' को और स्पष्ट करने के लिए यहाँ पूर्वापरिभूतम् इत्यादि दो वाक्य कहे गये हैं। पहले वाक्य में यह कहा गया है कि व्रजति पचति जैसे आख्यातों के प्रयोगों द्वारा साध्यभाव अथवा व्यापार को जब वक्ता कहता है तो जाने पकाने जैसी क्रियाओं का बोध इस रूप में होता है कि उन क्रियाओं में, पहले तथा बाद में और इस रूप में एक विशिष्ट क्रम में होने वाली अनेक अवान्तर क्रियाओं का ज्ञान होता है।

मूर्तसत्त्वभूतं............................पंक्तिरिति—

इस वाक्य में यह स्पष्ट किया गया कि 'नाम' शब्द भी कभी—कभी भाव को कहते हैं। परन्तु यह भाव 'पूर्वापरीभूत' अर्थात् साध्य न होकर सिद्ध होता है— अमूर्त न होकर मूर्त होता है, निष्पाद्य न होकर निष्पन्न होता है। यहाँ वह अपनी क्रमिकता को छोड़कर द्रव्य के समान हो जाता है। इस पंक्ति का अन्वयार्थ यह होगा कि मूर्त्त एवं सत्त्वभूत भाव को 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्द कहते हैं। यदि 'उपक्रम—प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्' अंश इस वाक्य से भी सम्बन्ध कर दिया जाय तो इस वाक्य का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है। अभिप्राय यह है कि 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे भाववाचक नाम' शब्दों का प्रयोग करने पर क्रिया के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की जो अवस्था है वह, अपनी क्रमिकता छोड़कर, मूर्त एवं सत्त्वभूत बनकर प्रकट होती है।

टिप्पणी–तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः, इस अंश की प्रो0 गुणे तथा डॉ0 लक्ष्मण स्वरूप ने एक और तरह से संगति लगायी है। उनका विचार है कि यहाँ 'यत्र' पद का अभिप्राय वाक्य न होकर 'व्रज्या' 'पंक्ति' इत्यादि भाववाचक 'नाम' शब्दों की ओर यास्क का संकेत है जो, 'व्रजति' 'पचति' आदि आख्यात शब्दों के समान, 'भाव' अथवा व्यापार को ही कहते हैं तथा इसी कारण 'भाव–प्रधान' हैं।

नाम 'आख्यात' के सामान्य एवं विशेष रूप का प्रदर्शन–

मूल–'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशः। 'गौर्' 'अश्वः' 'पुरुषः हस्ती' इति। 'भवति इति भावस्य'। 'आस्ते' 'शेते', 'व्रजति', 'तिष्ठति' इति।

अनुवाद–'अदस्' (इस प्रकार के सर्वनाम शब्दों) के द्वारा 'नाम' (वस्तुओं या सिद्ध–भाव) का (सामान्य रूप से) कथन होता है तथा 'गौ' 'अश्व' 'पुरुष' 'हाथी', (इत्यादि शब्दों से) विशेष रूप से। (इसी प्रकार) 'भवति' (जैसे अस्तित्व के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा साध्यभाव (अथवा क्रिया) का सामान्य रूप से कथन होता है तथा 'आस्ते', 'शेते', 'व्रजति' 'तिष्ठति' (इत्यादि विशिष्ट क्रिया के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा विशेष रूप से।

व्याख्या–यास्क की वाक्य–रचना प्रायः अतीव संक्षिप्त एवं सूत्र शैली के समान है। इसीलिए 'सत्त्वानाम्' तथा उपदेश के बीच 'सामान्येन' का तथा 'गौर्' अश्व पुरुषों हस्तीति के पश्चात् सत्त्वानां विशेषणोपदेशः का अध्याहार करना पड़ता है। इसी प्रकार 'भवतीति भावस्य' के पश्चात् 'सामान्येन उपदेशः' तथा 'तिष्ठतीति' के पश्चात् 'विशेषणोपदेशः' का अध्याहार करना आवश्यक है।

अभिप्राय यह है कि 'अदम्' या 'इदम्' जैसे सर्वनामों के द्वारा सामान्यतया सभी 'नाम' शब्दों का कथन होता है। वस्तुतः 'सर्वनाम' कहा ही उन शब्दों को जाता है जिनका प्रयोग किसी एक के लिए निश्चित न होकर सबके लिए समान रूप से किया जा सके। इसीलिए 'सर्वेषां नाम सर्वनाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सर्वनाम' को अन्वर्थक संज्ञा माना गया। इसके विपरीत 'गौ' 'अश्व' इत्यादि शब्द किसी विशिष्ट 'नाम' या द्रव्य के वाचक हैं। इसी कारण इस प्रकार के शब्दों को 'सर्वनाम' नहीं कहा जाता।

औदुम्बरायण का शब्द–नित्यत्व पक्ष और उसके दोष –

मूल–इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्यं नोपपद्यते। अयुगपद् उत्पन्नानां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः, शास्त्र कृतो योगश्च।

अनुवाद–शब्द (जिहवा) इन्द्रिय में (ही) नित्य है, ऐसा औदुम्बरायण (आचार्य) का मत है। इस मत में (पदों के) चार विभाग नहीं बन पाते। भिन्न–भिन्न समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के प्रति (गौण–प्रधान–भाव से) सम्बन्ध तथा (व्याकरण) शास्त्र में प्रदर्शित (प्रकृति–प्रत्यय आदि का) संयोग भी सुसंगत नहीं हो पाता।

व्याख्या–औदुम्बरायण एक प्राचीन आचार्य हो चुके हैं। यास्क ने इन्हें जिस रूप में यहाँ उद्धत किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द को अनित्य मानते थे– केवल वाग् इन्द्रिय में ही उसकी सत्ता मानते थे। अर्थात् जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तभी तक शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही वह नष्ट हो जाता है। सम्भवतः इस मत में शब्द तथा उसकी ध्वनि में कोई अन्तर न मानते हुए ध्वनि को ही शब्द माना जाता रहा।

यास्क का शब्द नित्यत्व पक्ष–

मूल–व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य।

अनुवाद–परन्तु शब्द के व्याप्तिमान् (नित्य) होने के कारण उपर्युक्त तीनों दोषों का समाधान हो जाता है।

व्याख्या–शब्द तथा ध्वनि ये दोनों पृथक–पृथक तत्त्व हैं। शब्द नित्य हैं। अर्थात् सदा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में विद्यमान रहते हैं। ध्वनियों के द्वारा केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। शब्द की, ध्वनियों के द्वारा होने वाली, यह अभिव्यक्ति ही अनित्य है क्योंकि ध्वनियाँ वाग् इन्द्रिय आदि के द्वारा उच्चरित होती हैं तथा तुरन्त नष्ट हो जाती हैं। परन्तु शब्द अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त चाहे जिस रूप में रहे–दोनों स्थितियों में यह नित्य है। पतंजलि ने महाभाष्य (1 |1 |70) में 'स्फोटस् तात्वान् एव ध्वनिकृता वृद्धिः' कहकर शब्द के इसी नित्य रूप को स्पष्ट किया है। शब्द के इस नित्य स्वरूप की दृष्टि से ही शब्द का दूसरा नाम 'स्फोट' या 'शब्द ब्रह्म' पड़ा। कात्यायन, पतंजलि तथा भर्तृहरि आदि ने न केवल शब्द को ही अपितु शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। इस रूप में शब्दों के नित्य होने के कारण शब्दों के उपयुक्त चार प्रकार का विभाजन, वाक्य में शब्द प्रयोग की आवश्यकता लौकिक, तथा वैदिक भाषाओं की समानता, विद्यमान शब्दों का पारस्परिक गौण–प्रधान–भाव तथा प्रकृति–प्रत्यय या धातु उपसर्ग आदि का योग अर्थात् सम्बन्ध, सब कुछ उत्पन्न हो जायेगा।

शब्द प्रयोग की आवश्यकता–

मूल–अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अनुवाद–अत्यन्त सरल (एवं स्पष्ट) होने के कारण लोक में (पारस्परिक) व्यवहार के लिए शब्द से (ही वस्तु या व्यक्ति का) नाम रखा जाता है।

व्याख्या–यहाँ यह पूछा जा सकता है कि विचारों के आदान–प्रदान के लिए शब्दों का या शब्दों के समूह भाषा का माध्यम क्यों अपनाया जाये? विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं, जैसे–हाथ या आँख के इशारे, तथा अन्य संकेतों से भी तो काम चलाया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यास्क ने संक्षेप में यह कहा है कि भावों या विचारों को अधिक से अधिक सरल तथा सुस्पष्ट रूप में शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। संकेत या शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बहुत थोड़ी बातें प्रकट की जा सकती हैं तथा साथ ही उनमें

बहुत कुछ अस्पष्टता एवं सन्दिग्धता बनी ही रहेगी। इसके अतिरिक्त इशारों और संकेतों से बातें बताने में देर ही लग सकती है। इसीलिए वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम शब्दों के द्वारा रखे गये तथा शब्दों का ही विभिन्न अर्थों में संकेत किया गया जिन्हें उन शब्दों का अर्थ कहा जाता है।

लौकिक तथा वैदिक भाषाओं की समानता–

मूल–तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

अनुवाद–वे (शब्द) जिस प्रकार (लौकिक भाषा में) मनुष्यों के प्रति विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वैदिक भाषा में वे देवताओं के प्रति (विभिन्न अभिप्रायों को भी) प्रकट करते हैं।

व्याख्या–जहाँ तक अर्थ–प्रकाशन की क्षमता का सम्बन्ध है, लौकिक भाषा तथा वैदिक भाषा दोनों ही समान हैं। यहाँ 'मनुष्यवत्' शब्द में 'तत्र तस्येव' सूत्र से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय मानना चाहिये तथा 'मनुष्येशु इव' अर्थ करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लौकिक भाषा में 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय' 'वाणी' आदि अर्थों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार वैदिक भाषा में भी इन 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय', 'पृथ्वी', 'अकिरण', 'वाणी' इत्यादि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार 'देवदत्त'! 'आयाहि दुग्धं पिव' यह वाक्य देवदत्त को यह बताता है कि 'देवदत्त तुम आओ और दूध पीओ।' उसी प्रकार 'वायवायाहि दर्शते सोमा अलंकृताः' इत्यादि वैदिक मन्त्रों के शब्द भी वायु इत्यादि देवों के प्रति यह कहते हैं कि 'वायु देव तुम आओ देखो यह सोम रस से भरे पात्र सजे हुए हैं।' अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लौकिक–भाषा के शब्द अर्थ के वाचक हैं, उसी प्रकार वेद के शब्द भी अर्थवान् हैं।

वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता–

मूल–पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर मन्त्रो वेदे।

अनुवाद–पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण वेद में कर्मों के सम्पूरक मन्त्र (संगृहीत) हैं।

व्याख्या–यह पूछा जा सकता है कि यदि वैदिक भाषा और लौकिक भाषा दोनों समान रूप से सार्थक हैं तो फिर यज्ञ आदि कार्यों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग की अनिवार्यता क्यों मानी जाती है। अपनी इच्छानुसार जिस किसी भी भाषा में रचित पद्यों या वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि कार्य क्यों न किये जायें इस प्रश्न का उत्तर यास्क यह देते हैं कि दोनों भाषाओं के समान होने पर भी वेद–मन्त्र अपौरुषेय हैं और लौकिक भाषा में निबद्ध वाक्य या पद्य पौरुषेय हैं, मानव निर्मित हैं। भारतीय परम्परा इस बात को मानती आयी है कि वेद मानवीय ज्ञान न होकर स्वतंत्र रूप से समुद्भूत शाश्वत ज्ञान है, जिसका ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। दूसरी ओर मानव का ज्ञान अनित्य है, अपूर्ण है तथा उसकी शक्ति एवं बुद्धि सीमित है। इसलिये उसकी भाषा में भी यह अपूर्णता अवश्य होगी। अतः मानवीय भाषा का प्रयोग होने पर यज्ञ आदि कार्यों की फलोत्पादकता या दूसरे शब्दों में इनकी सफलता के विषय में सन्देह हो सकता है। परन्तु वेद–मन्त्र के द्वारा किये जाने

पर यज्ञ आदि कार्य निश्चित रूप से फल के उत्पादक होंगे। वे यज्ञ आदि कार्य पूर्ण ही तब माने जायेंगे जब उनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग एवं विनियोग किया जायेगा। ब्राह्मण–ग्रन्थों ने इसी बात को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है– 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर् वाभिवदति'। (गौपथ ब्राह्मण 2।2।6) अर्थात् यज्ञ आदि की पूर्णता तो यही है कि वे रूप से समृद्ध हों– उनमें जो कार्य किया जा रहा है उसे ऋक् तथा यजुष् के मन्त्र भी कह रहें हों।

भाव के छः प्रकार तथा उनके अभिप्राय–

मूल–षड् भाव–विकारा–भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति इति।

अनुवाद–छः प्रकार के भाव विकार होते हैं– उत्पन्न होना, परिवर्तित होना, बढ़ना–घटना तथा नष्ट होना यह वार्ष्यायणि का मत है 'जायते' यह (शब्द) पूर्वभाग (उत्पत्ति) के प्रारम्भ को कहता है, अपरभाव होना को न तो कहता है न (उसका प्रतिषेध करता है। 'अस्ति' (होना) (रूप भाव) उत्पन्न पदार्थ की स्थिति को (कहता) है। 'विपरिणमते' यह (परिणत होना रूप भाव) अपने स्वरूप से अपरिवर्तित वस्तु के विकार को (कहता है) 'वर्धते' यह (बढ़ना रूप भाव) अपने अंगों अथवा स्व–सम्बद्ध पदार्थों की वृद्धि (या पुष्टि) को (कहता है) (जैसे) विजयेन वर्धते अथवा शरीरेण वर्धते। 'अपक्षीयते' यह (घटना) रूप भाव इसी (वर्धते की व्याख्या) से विपरीत रूप में व्याख्यात हो गया। 'विनश्यति' यह (नष्ट होना रूप भाव) अन्तिम भाव (नाश) के प्रारम्भ को कहता है। (इससे) पहले के भाव (घटना) को न कहता है और न (उसका) निषेध करता है। इन (छः भाव विकारों से) अन्य भाव विकार इनके ही विकार (अवान्तर) भेद हैं ऐसा (वार्ष्यायाणि ने) कहा है। उन (भाव विकारों) का वचन (प्रसंग या मंत्र) के अनुसार निश्चय कर लेना चाहिये।

व्याख्या– पहले 'आख्यात' की परिभाषा में 'भावप्रधानम्' शब्द आया था। वहाँ 'भाव' का अर्थ 'साध्य–भाव' अथवा व्यापार या क्रिया है। उसी 'भाव' की दृष्टि से यहाँ भाव–भेदों की चर्चा की जा रही है। यद्यपि 'भाव' अथवा सामान्य क्रिया के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु प्रमुख रूप से, एक प्राचीन आचार्य, वार्ष्यायणि ने 'भाव' के छः भेद माने हैं। बृहद्देवता (2।1।21), महाभाष्य (1।3।1) तथा वाक्यपदीय (1।3) में भी छः भाव–भेदों की चर्चा मिलती है। पहले दो ग्रन्थों में तो वार्यायणि का नाम लिया गया है, पर तीसरे में बिना नाम के ही इन छः विकारों का उल्लेख है।

आचार्य वार्ष्यायणि का विचार यह है कि उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में ये छः विकार देखे जाते हैं। इन विकारों का स्वभाव यह है कि वे अपने से पहले आने वाले विकार के समय में ही सूक्ष्म रूप से अपना स्वरूप धारण करने लगते हैं और अपने से पहले वाले विकार के तिरोहित हो जाने पर अपने स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं।

यहाँ प्रथम भाव विकार है 'जायते' अर्थात् उत्पन्न होना। बीज से जब अंकुर निकलता है तब यह कहा जाता है कि अंकुर पैदा हुआ। यद्यपि पैदा होना के साथ–साथ होना रूप क्रिया या भाव विकार भी है

ही। परन्तु यहाँ 'जायते' शब्द 'उत्पन्न होने' रूप भाव विकार को ही कहता है, 'होने' रूप भाव विकार को नहीं कहता और न उस 'भाव' का प्रतिषेध ही करता है। कहता इसलिए नहीं कि 'जायते' का अर्थ केवल 'होना न होकर' 'उत्पन्न होना' अर्थ है और निषेध इसलिए नहीं करता है कि 'उत्पन्न होना' रूप भाव–विकार हो ही तब कह सकता है जब कोई पदार्थ हो, अर्थात् वहाँ 'होना' रूप भाव–विकार भी हो। यदि अंकुर उत्पन्न होता है, यह कहा भी नहीं जा सकता।

दूसरा भाव–विकार है 'अस्ति' जिसका अर्थ है 'होना', अपनी सत्ता धारण करना। वैयाकरणों ने भी 'अस्ति' का अर्थ किया है 'आत्म–धारणानुकूलों व्यापारः'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते' 'वर्तते' ये सभी धातुयें सामान्य सत्ता अथवा 'भाव' को ही कहती हैं, जिसका अर्थ होता है– 'अपने को धारण करना'। इसलिए यास्क ने 'भवति इति भावस्य' कह कर 'सत्ता' को भाव सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कैयट ने इसी दृष्टि से 'आत्म–भरण–वचनों भवतिः' (महाभाष्य 1।3।1 पृ0 165) कहा भर्तृहरि से 'अस्ति' के अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए यह कहा कि 'अपने को अपने द्वारा धारण करने की स्थिति को अस्ति' पद के द्वारा कहा जाता है– 'आत्मानम् आत्मना विभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते' वाक्यपदीय (3, सं0, 7)।

तीसरा भाव–विकार है– 'विपरणमते' जिसका अभिप्राय है 'परिवर्तन'। यहाँ 'परिवर्तन' का अभिप्राय वह सामान्य विकार है जिसमें वस्तु अपने मौलिक धर्म, तत्व, या स्वभाव से रहित नहीं होता। जैसे मानव–शरीर में विविध परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु शरीर के स्वभाव में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

चौथा विकार है 'वर्धते' अर्थात् 'वृद्धि'। यह 'वृद्धि' दो प्रकार की हो सकती है। पहली अपने शरीर की वृद्धि तथा दूसरी अपने से सम्बद्ध या संयुक्त पदार्थों की वृद्धि अथवा पुष्टि। यहाँ निरुक्त में 'स्वाङ्ग' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है– शरीर के अंग के अर्थ में नहीं। पहले प्रकार की 'वृद्धि' की दृष्टि से 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण दिया गया तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से 'वर्धते' विजयेन उदाहरण दिया गया। इस प्रकार के और उदाहरण 'वर्धते धनेन', 'वर्धते यशसा' इत्यादि हो सकते हैं। निरुक्त में 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण 'वर्धते विजयेन' के पहले आना चाहिये।

पाँचवा भाव–विकार है 'अपक्षीयते' अर्थात् 'ह्रास' अथवा 'अपक्षय'। 'अपक्षय' से 'विनाश' को छठे भाव–विकार के रूप में गिनाया गया है। यह 'ह्रास' भी 'वृद्धि' के समान दो प्रकार का हो सकता है– पहला शरीर का ह्रास तथा दूसरा अपने से युक्त या सम्बद्ध पदार्थों का ह्रास। पहले का उदाहरण है– 'अपक्षीयते शरीरेण' तथा दूसरे का उदाहरण है– 'अपक्षीयते अपजयेन' इत्यादि। इसीलिए यास्क ने यहाँ केवल ''अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्'' इतना कहना ही पर्याप्त समझा।

छठा भाव–विकार है 'विनश्यति' अर्थात् 'विनाश' यह इन छः भाव–विकारों में अन्तिम विकार है। जब 'ह्रास' अपनी अन्तिम सीमा पर आ जाता है तब 'विनाश' का प्रारम्भ माना जाता है। इसी कारण यह 'विनश्यति' पद अन्तिम भाव 'विनाश' की प्रारम्भिक अवस्था को कहता है। परन्तु उससे पूर्व के भाव–विकार

'अपक्षय' को न तो कहता ही है और न उनका निषेध ही करता है। कहता इसलिए नहीं कि 'विनश्यति' का अर्थ 'अपक्षय' अथवा 'ह्रास' न होकर 'पूर्ण विनाश' हुआ करता है और निषेध इसलिए नहीं कर सकता कि 'अपक्षय' के हुए बिना 'विनाश' हो ही नहीं सकता।

यास्क के अनुसार, वार्ष्यायणि का यह भी कहना है कि इन छः विकारों के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव–विकार उपलब्ध होते हैं, उन सबको इन छः विकारों के अन्तर्गत ही मान लेना चाहिये।

उपसर्ग अर्थों के वाचक या द्योतक –

मूल–'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थात् निराहुः' इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंगद्योतका भवन्ति। 'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति' इति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुर् इमे में नामाख्यातयोर् अर्थविकरणम्।

अनुवाद–स्वतन्त्र (रूप से प्रयुक्त) उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं कहते अपितु 'नाम' तथा 'तिङन्त' पद के अर्थ–सम्बद्ध के द्योतक मात्र होते हैं– यह शाकटायन का मत है। परन्तु (इसके विपरीत) गार्ग्य का मत यह है कि (उपसर्ग) विभिन्न अर्थों वाले होते हैं। तो इन (उपसर्गों) में जो पदार्थ (उपसर्ग पदों का अर्थ) है, जिसके द्वारा 'नाम' तथा 'आख्यात' के अर्थ में विकार (परिवर्तन) उत्पन्न हो जाता है, उसको ये (उपसर्ग) अच्छी तरह से कहते हैं।

व्याख्या– संस्कृत–व्याकरण में उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व पक्ष को लेकर बहुत प्राचीन काल से आचार्यों में विवाद चलता आ रहा है। इसी विवाद का उल्लेख यहाँ किया गया है। संस्कृत–व्याकरण के प्राचीन आचार्य, शाकटायन प्रथम पक्ष के प्रबल पोषक हैं तथा सम्भवतः निरुक्त के प्राचीन आचार्य, गार्ग्य दूसरे पक्ष के।

शाकटायन का यह विचार है कि उपसर्ग सदा ही 'नाम' (प्रातिपदिक) अथवा 'आख्यात' (तिङन्त) पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी वे स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। अतः यही मानना चाहिये कि उपसर्ग जिन 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं उनके ही अर्थों को द्योतित करते हैं– स्वयं किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं करते जो उन 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ हों, जिनके साथ ये प्रयुक्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि उपसर्ग के प्रयुक्त होने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का न होकर उन्हीं 'नाम' या 'तिङन्त' पदों का होता है– उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का प्रकाशन या द्योतन मात्र करते हैं। जैसे– घर में सारा सामान विद्यमान होने पर भी अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देता पर जब दीपक जल जाता है तो वह सब दिखाई देता है। यहाँ जिस प्रकार दीपक उन सामान या वस्तुओं का द्योतक मात्र होता है– लाने वाला नहीं होता– उसी प्रकार उपसर्ग भी केवल इन अर्थों के द्योतक मात्र होते हैं– वाचक नहीं।

निर्बद्धा उपसर्गा अर्थात् न निराहुः–शाकटायन के इस मत में इस बात पर जोर दिया गया है कि उपसर्ग स्वतंत्र रूप से अर्थ का कथन निश्चित ही नहीं करते। 'निराहुः' प्रयोग में 'निर्' उपसर्ग निश्चय अर्थ

का द्योतन करता है। ये उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का द्योतन मात्र करते हैं, जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों में सन्निहित (उपसंयुक्त) रहते हैं। कर्मोपसंयोग–द्योतकाः का विग्रह है– कर्मणः (अर्थस्य) उपसंयोगः (सम्बन्धः) कर्मोपसंयोगः। तस्य द्योतका कर्मोपसंयोग–द्योतकाः। 'नाम' और 'आख्यात' का अर्थ विशेष के साथ जो सम्बन्ध है– उसके उपसर्ग द्योतक होते हैं वाचक नहीं।

टिप्पणी–वैयाकरणोंके सिद्धान्त में उपसर्ग अर्थ के द्योतक होते हैं, का आधार एक और मूलभूत सिद्धान्त यह है कि धातु अनेक अर्थ वाली होती है। द्र0–अनेकार्था हि धातवो भवन्ति। तद् यथा वपिः प्रकिरणे दृष्टश् छेदने चापि वर्तते–'केशश्मश्रु वपति' इति। ईडिः स्तुति स्तुति चोदना–याच्ञासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते–'अग्निर्वा इतो वृष्टिम् ईट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति'–इति। कारोतिर् अभूत–प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरण चापि वर्तत–'कटे कुरु' 'पादौ कुरु' उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चाऽपि वर्तते–'कटे कुरु' 'घटे कुरु' 'अस्मानम् इतः कुरु' स्थापय इति गग्यते। एवम् इहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठतिर् एव व्रजिक्रिया या निवृत्तिम्। महाभाष्य (1।3।1) यहाँ पतंजलि के इस कथन का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि धातु–पाठ में धातुओं के जिन–जिन अर्थों को प्रदर्शित किया गया है उनसे भिन्न अर्थों में भी धातुओं का प्रयोग होता है इसलिए यही मानना चाहिये कि 'स्था' धातु ही 'तिष्ठति' प्रयोग में 'ठहरने' अर्थ को तथा 'प्रतिष्ठते' प्रयोग में वही प्रस्थान करने या 'जाने' अर्थ को कहती है। 'प्रतिष्ठते' में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग तो केवल इस बात का द्योतक करता है कि 'स्था' धातु का अर्थ यहाँ 'ठहरना' न होकर 'जाना' है।

आचार्य गार्ग्य का वाचकत्व पक्ष–नैरुक्त आचार्य गार्ग्य का यह निश्चित मत है कि उपसर्ग भी 'नाम' और 'आख्यात्' के समान 'पद' है तथा उनके भी अपने–अपने विविध अर्थ होते हैं, द्योतक नहीं। यह दूसरी बात है कि ये उपसर्ग स्वभावतः ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों के ही अर्थो में विकार पैदा कर देते हैं जो 'नाम' तथा 'आख्यात' पदों में उपसर्ग के संयोग से जो अर्थ की भिन्नता आती है और उपसर्ग के हट जाने पर जो अर्थ की भिन्नता समाप्त हो जाती है, उसे अन्यवव्यतिरेक के नियम के अनुसार उपसर्गों का ही अर्थ मानना चाहिये। यह अर्थ भिन्नता ही इन उपसर्ग पदों का अपना अर्थ है तथा उसे ये उपसर्ग 'प्राहुः'– अच्छी प्रकार कहते हैं केवल द्योतन मात्र नहीं करते।

ते उपेक्षितव्याः का अर्थ– इन उपसर्गों के विविध अर्थों के विषय में अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये–उनकी परीक्षा करनी चाहिये। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यास्क के समय शब्द 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष्' धातु उपेक्षा के आधुनिक अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हो सका था।

टिप्पणी–उपसर्गों के विषय में नैरुक्तों का मत वैयाकरणों से भिन्न रहा है। नैरुक्त उपसर्गों को अर्थों का द्योतक न मानकर वाचक मानते रहे हैं। यह गार्ग्य के कथन से अनुमय है। शाकटायन का यह कहना है कि उपसर्ग स्वतंत्र रूप से अर्थों का कथन नहीं करते बहुत सत्य नहीं है, क्योंकि वेदों में अनेक स्थानों पर केवल उपसर्ग अपने अर्थ से विशिष्ट किसी क्रिया को कहते हुए देखे जाते हैं, जैसे–

उद् उत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं अथाय।
अथा वयम् आदित्य व्रते तवानागसोऽदियते स्याम।। (ऋगवेद 1।24।15)

इस मंत्र के पूर्वार्ध में पहले स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त 'उत्' तथा 'अव' उपसर्ग 'ऊपर की ओर खोलो' तथा 'नीचे की ओर खोलो' इन अर्थों को कहते हैं यह कहना उचित नहीं है कि यहाँ ये उपसर्ग भी स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त न होकर 'श्रथाय' क्रिया से सम्बद्ध हैं क्योंकि 'श्रथाय' का तो अध्याहार करना पड़ता है। मन्त्रकर्ता ऋषि ने स्वयं उसका प्रयोग नहीं किया है।

उपसर्गों के इन स्वतन्त्र प्रयोगों तथा उनसे प्रकट होने वाले विशिष्ट अर्थों को देखकर ही पतंजलि को भी, जो उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष के समर्थक हैं, यह कहना पड़ा कि उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जब उनके साथ किसी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग होता है तो वहाँ वे क्रिया विशेष को कहते हैं। परन्तु जहाँ उनके साथ तिङन्त पद का प्रयोग नहीं होता वहाँ साधन (कारक) से विशिष्ट क्रिया को कहते हैं– उपसर्गाश्च पुनर् एवम् आत्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रिया विशेषम् आहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियाम् आहुः।

वैदिक प्रतिसाख्यकार भी संभवतः नैरुक्तों के इस वाचकता पक्ष से ही सहमत हैं, क्योंकि उपसर्गों के विषय में ऋक्–प्रतिशाख्य' में 'उपसर्गा विशतिर् अर्थवाचकाः (2।20) तथा 'उपसर्गों विशेषकृत' (12।25) कहकर उन्हें विशिष्ट अर्थ का वाचक माना गया है।

वस्तुतः वैदिक–मन्त्रों में उपसर्गों के स्वतंत्र प्रयोगों को देखते हुए वैदिक भाषा की दृष्टि से उपसर्गों को अर्थ का वाचक मानना उचित भी प्रतीत होता है।

3.4 सारांश

इस इकाई में यास्क कृत 'निघण्टु' शब्द के विविध निर्वचन प्रस्तुत किये गये एवं विभिन्न महत्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या एवं निवर्चन प्रस्तुत किया गया है।

3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति– आचार्य बलदेव उपाध्याय।
2. निरुक्त– यास्क।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ0 शिवमूर्ति शर्मा।

3.6 स्वपरख प्रश्न / अभ्यास

1. निघन्टु शब्द की व्युत्पत्ति को समाइये?
2. नाम और आख्यात को परिभाषित कीजिये?
3. 'मूर्त्तसत्त्व' भूतं को स्पष्ट कीजिये?
4. औदुम्बरायण का शब्द नित्यत्त्व पक्ष और उसके दोष बताइये?